जैन धर्म का मूल आधार-आगम

(Base of Jain Religion - Agam)

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद 12 वर्ष के 2-3 दुष्काल पड़े जिससे साधुगण और आचार्य भगवंत के जीवन निर्वाह करना ही कठिन हो गया था तब वे उनके अध्ययन अध्यापन से दूर रहे। इस हेतु कई वर्षों तक उनका पुनरावर्तन बंद हो गया जिससे वे बहुत से आगम विस्मृत हो गये और भगवान महावीर के निर्वाण के 170 वर्ष बाद जैन संघ में श्रुत केवली का अभाव हो गया था और केवल 10 पूर्वधर ही रह गये थे। वे भी सीमित थे। इन्हीं योग्यता को ध्यान में रखकर जैन संघ के दश पूर्वधर ग्रंथित ग्रन्थों का आगम में समावेश कर लिया गया। चतुर्दश व दश पूर्वधर वे ही साधक हो सकते है जिनमें नियत सम्यकदर्शन होता है। अपनी स्मृति पर बोझ न बढ़ाकर जैन आगमों को लिपिबद्ध करके ही जैन आगमों को बचा सकते हैं।

आगम की परिभाषा

'आङ्' उपसर्गपूर्वक भ्वादिगणीय 'गम्लृ–गतौ' धातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर अथवा इसी धातु से कारण अबर्थ से 'घञ्' प्रत्यय करने पर आगम शब्द निष्पन्न होता है।

जैन परंपरा में आगम शब्द की व्याख्या मुख्यतः तीन प्रकार से की जाती है :

1. स्वयं आप्त पुरूष ही आगम है।
2. अर्थ – ज्ञान जिससे हो वह आगम है। अथवा आप्त का वचन आगम है।
3. आप्त–पुरूष की वाणी से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आगम है।

प्रथम व्याख्या के अनुसार आप्त–पुरूष आगम है, किन्तु वर्तमान में आप्त–पुरूषों की अनुपस्थिति में उनका वचन तथा उस वचन से उत्पन्न होने वाले अर्थ ज्ञान को भी आगम मान लिया गया है।

जहाँ तक आप्त–पुरूष की वाणी का संबंध है, परंपरा ने तीर्थंकर, गणधर चतुर्दशपूर्वधारी, दशपूर्वधारी तथा प्रत्येक बुद्ध की वाणी को आगम माना है। नियम के अनुसार आगम के वचन पूर्वापर दोषरहित होते है। स्याद्वादमंजरी के अनुसार आप्त वे हैं, जिनके राग–द्वेष तथा मोह का ऐकांतिक एवं आत्यंतिक क्षय हो चुका है।

जैन परंपरा वर्तमान में जिन्हें 'आगम' कहती है, प्राचीन काल में उन्हें श्रुत या सम्यक् श्रुत कहा जाता था। इसी आधार पर 'श्रुत केवली' शब्द प्रचलित हुआ। 'आगम–केवली' या 'सूत्र–केवली' ऐसा प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है। आचार्य उमास्वाति ने श्रुत के पर्यायवाची शब्द के रूप में आगम शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य, आम्नाय, प्रवचन और जिन–वचन को श्रुत के पर्यायवाची शब्द के रूप में स्वीकार किया है। वस्तुतः यहां श्रुत शब्द अत्यंत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इसके लिए समय–समय पर निम्न स्थानों पर आचार्यों द्वारा एकत्रित होकर विचार विमर्श किया गया।

1) पाटलीपुत्र वाचना : भगवान बुद्ध के उपदेशों को व्यवस्थित करने के लिए कई संगोष्ठियां की। इसी प्रकार भगवान महावीर के उपदेशों को व्यवस्थित करने के लिए जैनाचार्यों ने तीन वाचनाएं की थी और जैन श्रुत को व्यवस्थित किया।

भगवान महावीर के निर्वाण के 162 वर्ष बाद पाटलीपुत्र में दुर्भिक्ष के बाद जैन श्रमण संघ को एकत्रित किया। उन्हीं दिनों मध्यप्रदेश में अनावृष्टि के कारण जैन श्रमण बिखर गये। एक दूसरे से पूछ कर 11 अंगों को व्यवस्थित किया और उनमें भी सम्पूर्ण दृष्टिवाद का समावेश नहीं था।

उस समय दृष्टिवाद के ज्ञाता आचार्य भद्रबाहू 12 वर्ष की योग मार्ग की साधना के लिए नेपाल में थे। अतः संघ ने श्री स्थूलभद्र को अन्य अनेक आचार्यों के साथ आचार्य भद्रबाहू के पास भेजा। इसमें स्थूलभ्रद ही समर्थ सिद्ध हुए। उन्होंने दश पूर्व सीखने के बाद अपने श्रुत लब्धि का प्रयोग

किया और सफल हुए, इस बात का श्री भद्रबाहू स्वामी को पता लगा तो उन्होंने अध्यापन कराना बंद कर दिया और शेष चार विद्या की केवल वाचना की। इस प्रकार श्री स्थूलभद्र के पास दश पूर्व का ज्ञान (श्रमण संघ के पास) रह गया। श्री स्थूलभद्र क मृत्यु के बाद 12 अंगों में से 11 अंग और दश पूर्व का ज्ञान शेष रह गया।

2) उड़ीसा वाचना : निर्वाण के 300 वर्ष बाद उड़ीसा में वाचना होने का उल्लेख है।

3) माथुरी वाचना : नन्दीसूत्र की चूर्णी में उल्लेख है कि द्वादशवर्षीय दुश्काल में सूत्र नष्ट हो जाने पर आर्य स्कंदिल के नेतृत्व में (बारह वर्ष दुश्काल के बाद) साधु संत मथुरा में एकत्रित हुए और जिसको जो याद था उसी के आधार पर सूत्रों को व्यवस्थित किया। यह वाचना मथुरा में हुई इसलिये माथुरी वाचना कहलाई। इसका समय वीर सं. 827–840 का माना गया है।

4) वालभी वाचना : वीर सं. 827 में जब मथुरा में वाचना हुई थी उसी काल में वालभी में नागार्जुन सूरि ने श्रमण संघ को एकत्रित करके आगमों को व्यवस्थित करने का प्रयास किया। उस समय नागार्जुन और संघ को जो आगम, अनुयोग व प्रकरण याद थे वे लिखे गये इसलिये वालभी वाचना या नागार्जुनीय वाचना भी कहते है।

5) देवर्धिगणि का पुस्तक लेखन : उपर्युक्त वाचनाओं के सफल होने के 150 वर्ष पश्चात् वी.स. 980 में वल्लभीनगर में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में श्रमण संघ एकत्रित हुआ और उपर्युक्त जो–जो ग्रन्थ विद्यमान थे उन सबको लिखकर सुरक्षित करने का जिम्मा लिया और इसमें दोनों वाचनाओं के सिद्धान्तों का परस्पर समन्वय कर भेदभाव मिटाया और एकरूपता लाकर लिपिबद्ध किया।

जैन धर्म एक स्वतंत्र धर्म है, स्वतन्त्र धर्म होने पर प्रत्येक धर्म का एक मूल ग्रन्थ होता है जैसे –

1 वैदिक धर्म का ..... वेद

2 बौद्ध धर्म का ..... त्रिपिटक

3 पारसी धर्म का ..... अवेस्ता

4 ईसाई धर्म का ..... बाईबिल

5 मुस्लिम धर्म का ..... कुरान

तो प्रश्न यह है कि जैन धर्म का मूल ग्रन्थ कौन सा ? ऐसा प्रश्न अन्य धर्मनिष्ठ व्यक्ति एवं धर्म प्रेमी को भी करते देखा गया। इस संबंध में मेरी अपनी मान्यता है कि जैन धर्म एक विस्तृत, वृहद्, विशाल धर्म है, जिसको एक ग्रन्थ में सीमित नहीं रखा जा सकता इसलिए उसके पृथक–पृथक भाग आचरण के आधार पर है जिनको हम आगम कहते हैं।

इसमें तीर्थंकर की वाणी निहित है। श्री श्वेताम्बर जैन सर्वमान्य वर्तमान आगम ही मौलिक व प्रमाणिक है। इनके प्रमाणिकता के बारे में अधिक लिखना उपर्युक्त न मानते हुए केवल कुछ लेखकों को ही उद्धत करेंगे जो जैन आगमों के प्रगाढ़ अभ्यासी रहे हैं।

डॉक्टर हर्मन जेकोबी व अन्य यूरोपियन स्कालरों ने भी इन आगमों को वास्तविक **"जैन श्रुत"** मान लिया और इसी आधार पर जैन धर्म को प्राचीन माना है। इस बात को कान्ताप्रसाद जैसे विद्वान (दिगम्बर सम्प्रदायी) भी स्वीकार करते है। उन्होंने अपनी "भगवान महावीर" नामक पुस्तक में लिखा है जर्मनी के डॉ. जेकोबी सदृश विद्वानों ने जैन शास्त्रों को प्राप्त किया और उनका अध्ययन करके उनको सभ्य संसार के समक्ष प्रकट भी किया कि श्वेताम्बराम्नाय के अग्र ग्रन्थ हैं और डॉ. जेकोबी इन्हीं को वास्तविक जैन श्रुत शास्त्र समझते हैं।

यहाँ यह भी स्पष्ट होना आवश्यक है कि जिस संघ में महावीर के मुख्य शिष्य (गणधरों) के मुख से जो शब्द निकले थे वे उसी रूप में आज भी है या नहीं। यहाँ यह भी लिखना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि ऐसा किसी ने भी दावा नहीं किया वरन् उन्होंने तो भिन्न भिन्न समय में अंगसूत्रों को

संकलित कर, उन्हें किस प्रकार व्यवस्थित किये यह भी पूर्वाचार्यों ने स्पष्ट किया। इसकी जानकारी संक्षेप में आगे वर्णन करेंगे।

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय भी पहले इन्हीं आगमों को प्रमाणिक मानते थे जिन्हें श्वेताम्बर समाज मानते हैं परन्तु 6ठी शताब्दी से दिगम्बर सम्प्रदाय विचार विभेद से श्वेताम्बर समाज से पृथक् हो गये। जैसे– केवलीमुक्ति और स्त्री मुक्ति गर्भापहार। दिगम्बर सम्प्रदाय ने तभी से इन आगमों को अप्रमाणिक कहकर छोड़ दिया और उनकी नई रचनाओं से अपनी परम्परा को समृद्ध करने लगे।

दिगम्बर विद्वान महावीर के गर्भापहार की बात को अर्वाचीन मानते हैं जबकि यह मान्यता दो हजार वर्ष से अधिक प्राचीन है, ऐसा कथन डॉ. जेकोबी आदि विद्वानों का है। इसमें मथुरा कंकाली किला में से निकले हुए गर्भापहार का शिलापट्ट देखने से स्पष्ट हो जाएगा जो मथुरा के म्यूजियम में सुरक्षित है।

इन आगमों में सभी धार्मिक, सामाजिक, व्यवहारिक, व्याकरण, शुभ–अशुभ, उपदेश, आदेश का समावेश हो जाता है। ये आगम जिन परिस्थितियों में तब थे, वहीं आज भी है।

भगवान महावीर के निर्वाण के 980 वर्ष बाद यदि देवर्धिगणि के समय तक स्थिति एक सी नहीं रही, सभी आगमों का उल्लेख नन्दीसूत्र में कर लिया।

पूर्व में आगमों की संख्या 84 निश्चित हुई, और छोटे–छोटे ग्रन्थों के निर्माण हुए, मुख्य सिद्धान्त स्याद्वाद, कर्मवाद, परमाणुवादादि बिन्दुओं में सम्मिलित किए। इनको समझने के बाद कोई भी साधन शेष नहीं रह जाता इसका वर्णन भविष्य में किया जावेगा। आगम को अरिहन्त देव ने अर्थ रूप में कहा उसी को गणधरों ने सूत्र रूप में संकलित किया –

इन सूत्रों पर वीर निर्माण की दूसरी शताब्दी में चतुर्दश पूर्वधर श्री भ्रदबाहु सूरि ने नियुक्ति की रचना कर सभी को संकलित किया। सूत्र पर वि.सं. की तीसरी शताब्दी में आचार्य गन्धहस्तसूरि ने विस्तृत टीका की

रचना की, टीका वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। गन्ध हस्तसूरि की टीका को सामान्य व्यक्ति नहीं समझ सका। जैन आगमों की टीका सबसे प्राचीन संस्कृत आचार्य श्री हरिभद्र सूरि जी ने की उनका समय वि. 757 से 857 के बीच का है। इन्होंने प्राकृत चूणियों का संस्कृत मे अनुवाद किया इसके बाद स. 933 में श्री शीलांगाचार्य ने सरल भाषा में टीका रचना की जिसमें से आचारांग सूत्रकृतांग दोनों टीका उपलब्ध है, शेष नहीं है। शेष टीका का अभाव देखकर सं. 1120 में चवन्द्रकुलीन आचार्य श्री अभयदेव सूरि 9 आगमों की टीका की रचना कर नवांगी टीकाकार कहलाए (जो उपलब्ध है)।

श्री हरिभद्र सूरि जी ने टीका लिखी इनकी टीकाएँ तथा उक्त दोनों टीका (आचारांग व सूत्रकृत) व सभी टीकाएँ भी कठिन लगने लगी तो वि. सं. की 16वीं शताब्दी में श्री जिनहंससूरि ने आचारांग की दीपिका की रचना की उक्त तीनों कठिन लगी तो वि. की 16वीं शताब्दी में श्री पार्श्वनाथ सूरि ने उक्त आगमों की टीका का गुर्जर भाषा (गुजराती भाषा) में अनुवाद किया। आगम पद निर्धारित किये जिसको इस प्रकार देखे जा सकते है – पूर्व व वर्तमान में कितने श्लोक पद है इस पर दृष्टि डाले :

1) अंग :

	नाम सूत्र	पद	पदों की संख्या	वर्तमान श्लोक
1.	श्री आचारांग सूत्र	18000	9195923187000	2525
2.	श्री सूत्रकृतांग	36000	18391846374000	2100
3.	श्री स्थानायांग	72000	36783692748000	3600
4.	श्री समवायांग	144000	73567385496000	1667
5.	श्री व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र)	288000	147134770992000	5752
6.	श्री ज्ञातांग (ज्ञाता धर्मकथा)	576000	294269541984000	5400
7.	श्री उपासक दषांग	1152000	588539083968000	812
8.	श्री अन्तगढ़ दशांग	2304000	117707816793600	812

9.	श्री अनुत्तरोप पातिक	4608000	2354156335872000	192
10.	श्री प्रश्न व्याकरण	9216000	470831267174000	1256
11.	श्री विपांक सूत्र	18432000	941662534348000	1217

नोट : एक पद में 51088621 / ½ श्लोक होते हैं।

2) उपांग - 12

1) ओपपातिक 2) राज प्रश्नीय 3) जीवाभिगम 4) प्रज्ञापना
5) सूर्य प्रज्ञप्ति 6) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति 7) चन्द्रप्रज्ञप्ति 8) निरयावली
9) कल्पवतंतिका 10) पुष्पिता 11) पुष्पचूलिका 12) वृष्णिदशा

3) छेद - 6

1) व्यवहार 2) बृहत्कल्प 3) निशीथ
4) दशाश्रुतस्कंध 5) महानिशीथ 6) जीतकल्प

4) मूल - 4

1) दशवैकालिक 2) उत्तराध्ययन 3) आवश्यक नियुक्ति
4) पिण्ड निर्युक्ति

5) प्रकीर्णक - 10

1) चतुःशरण 2) आतुर प्रत्याख्यान 3) भक्तपरिज्ञा 4) संस्तारक
5) तदुलवैचारिक 6) चन्द्रवैध्यकः 7) देवेन्द्रस्तव 8) गणि विद्या
9) महा प्रत्याख्यान 10) वीरस्तव

6) चूलिका सूत्र

1) नन्दी सूत्र 2) अनुयोगद्वार
46) कल्पसूत्र 47) यति जीतकल्य 48) श्राद्धजीत कल्प
49) पाक्षिक सूत्र (आवश्यक सूत्र का अंश)
50) क्षमापना सूत्र (आवश्यक सूत्र का अंश)
51) वंदितु 52) ऋषिभषितं 53–72–(20) अन्य पयन्ना
1) अजीवकल्प 2) गच्छाचार 3) मरणसमाधि
4) सिद्धप्राभूत 5) तीर्थोद्गार 6) आराधनापताका

7) द्वीपसागर प्रज्ञप्ति 8) ज्योतिपकरण्डक 9) अंग विद्या
10) तीथि प्रकीर्णक 11) पिण्ड विशुद्धि 12) सारावली
13) पर्यन्ताराधना 14) जीव विभक्ति 15) कवचप्रकरण 16) योनि प्राभूत
17) अंग चूलिया 18) वग्ग चूलिया 19) वृद्धचतुःशरण 20) जम्बूपयन्ना

73-83-(11) निर्युक्ति

1) आवश्यक निर्युक्ति 2) दशवैकालिक निर्युक्ति 3) उत्तराध्ययन निर्युक्ति
4) आचारांग निर्युक्ति 5) सूत्रकृतांग निर्युक्ति 6) सूर्य पज्ञप्ति निर्युक्ति
7) वृहत्कल्प निर्युक्ति 8) व्यवहार निर्युक्ति 9) दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति
10) ऋषिभाषित निर्युक्ति 11) संसक्तनिर्युक्ति

84. विशेष आवश्यक भाष्य :

उक्त सभी आगमों का अर्थात् 84 आगमों में से बहुत से आगमों का उक्त 45 आगमों में अन्तर्भाव हो जाते हैं या निर्युक्ति, टीका, चूणि है।

इसलिए 45 आगम जो मूर्तिपूजक सम्प्रदाय मानता है वर्णन इस प्रकार है।

|| ❋ ||

आगम

समवायांग और नंदी सूत्र में द्वादशांगी का वर्णन है। समवायांग सूत्र में बारह अंगों का क्रम और प्रत्येक का विस्तार से वर्णन किया है।

श्वेताम्बर व दिगम्बर समाज में एक ही क्रम में द्वादशांगी का वर्णन है जो निम्न है।

(1) आचारांग (2) सूत्र कृतांग (3) स्थानांग
(4) समवायांग (5) व्याख्या प्रज्ञप्ति (6) ज्ञाता धर्मकथा
(7) उपासकं दशांग (8) अंतकृत दशांग (9) अनुत्तरोपपातिक
(10) प्रश्न व्याकरण (11) विपाक सूत्र (12) दृष्टिवाद

(1) आचारांग सूत्र

इसमें आचार के सिद्धान्तों और नियमों के लिए जिस मनोवैज्ञानिक आधार को अपनाया है वह आज भी उपयोगी है। यह सूत्र सार्वभौम है, जो किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं है। यह एक पारस पत्थर (ग्रन्थ) है जो उन सबके लिए है जो साधना, भाव, भक्ति से समर्पित है। इस सूत्र में भगवान महावीर की साधनात्मक देशना ही नहीं है वरन् करूणा की सहिष्णुता भी है। आगम ज्ञान तीर्थ है तो आचारांग सूत्र प्रथम तीर्थ है।

इसका हर अध्याय साधना मार्ग का मील का पत्थर है। इस सूत्र में साधु एवं श्रावक के अच्छे आचारों का वर्णन हे। इसमें दो श्रुतकन्ध व 25 अध्याय है। इसके द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, धर्म कथानुयोग, चरणकरणानुयोग आदि अनुयोगों का समावेश है। इसमें जीवन शुद्धि के स्तर को सुधारने का मार्ग बताया है तथा प्रत्येक जीव पर आत्मीय भाव व 6 प्रकार के जीवों पर दया कर आचार की शुद्धि के तरीके का वर्णन किया है। इसमें कुल 20350 श्लोक है। इसमें मूल श्लोक, टीका चूर्णि, निर्युक्ति भी सम्मिलित है।

इस सूत्र में आचार्य, साधु भगवंतों के आचार, गोचर, विनय कार्योत्सर्ग, सोना, बैठना, चलना, भोजन, आहार–पानी, उपकरण मर्यादा अर्थात् आचार्य के आचरण व चरित्र आदि के सभी गुणों–अवगुणों का विवरण, किसका पालन करना व किसका पालन नहीं करना है आदि के साथ–साथ उनके महाव्रतों, विभिन्न व्रतों, तप अभिग्रह, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार, इन सबका विस्तार से वर्णन किया गया है। आचारांग में वाचनाएं, अनुयोगद्धार, निर्युक्तियाँ आदि समावेश है। आचार्यों के आचार–विचार आदि से सम्बन्धित होने के कारण आगम में इस सूत्र का प्रथम स्थान है। इस सूत्र की रचना श्री सुधर्मा स्वामी द्वारा की गयी है।

आचारांग में दो श्रुतस्कंध व पच्चीस अध्ययन है। ग्रंथ के प्रथम अंग में 18000 पद है।

प्रथम अध्ययन के 7, दूसरे अध्ययन के 6, तीसरे व चौथे अध्ययन में 4–4, पांचवें के 6, छठे के 5, सातवें के 8, आठवें के 7, नौवें के 4, दसवें के 11, ग्यारहवें व बारहवें के 3–3, 13वें से 16 वें तक के 2–2 प्रत्येक में, शेष अध्ययन में 1–1, इस प्रकार 85 उद्देशककाल और 85 समुद्देशककाल भी है।

यह सूत्र पद्य व गद्य दोनों शैली के है। वर्तमान में दोनों श्रुतस्कंधरूप आचारांग का पद–परिमाण है व 2500 श्लोक है।

समवायांग सूत्र व नंदी सूत्र के मूल पाठ में आचारांग की मय दो श्रुतस्कंध को मिलाकार पद संख्या दी है, लेकिन आचारांग के निर्युक्तिकार, टीकाकार तथा वृतिकार श्री शीलाकाचार्य और समवायांग के प्रथम व नवांगी टीकाकार श्री अभयदेवसूरिजी ने आचारांग के प्रथम श्रुत में स्कंध के 18000 पद लिए है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध : इसका नाम नव ब्रह्मचर्य भी है। इसमें 9 अध्ययन है।

(1) प्रथम अध्ययन शास्त्र परिज्ञा है। इसके 7 उद्देशक है। इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्य लाठी, तलवार, पिस्तोल आदि इसके साथ–साथ

भाव–शस्त्र जैसे पूर्वजन्म आत्मवादी, कर्मवादी, काम, क्रोध, मोह, माया, आदि वृद्धि होने पर, उसकी भयानकता को समझ कर द्रव्य शस्त्र व भाव शस्त्र दोनों ही शस्त्र को त्याग करना। इसमें अस्तित्व का बोध कराया है।

प्रथम उद्देशक : जिस जीव के ज्ञानवरणीय कर्म का सघन उदय होता है वह यह नहीं जान पाता है कि मैं पूर्वभव में किस गति में था और यहाँ कहां से आया हूँ ? पर जब ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जाति स्मरण ज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मनः पर्यय ज्ञान हो जाता है अथवा गुरू आदि के उपदेश से जब जीव यह जान लेता है कि मैं पूर्वभव में अमुक था और यहाँ से मृत्यु को प्राप्त कर अमुक स्थान पर उत्पन्न हुआ हूँ।

इस प्रकार जो व्यक्ति आत्मा के इस स्वरूप को जान लेता है वह ''आत्मावादी'' कहलाता है। जो आत्मा के स्वरूप को जान लेता है, वह लोक के स्वरूप को जान लेता, जो लोक के स्वरूप को जानता है, वह कर्म के स्वरूप को जान लेता हैं। क्योंकि जीव के लोक में परिभ्रमण का कारण कर्म ही है। जो कर्मों का स्वरूप जानता है। वह कर्मबन्ध के कारण भूत क्रिया को जान लेता है। इसलिए इस अध्ययन में आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले को आत्मावादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी कहा है।

दुसरा उद्देशक : इस उद्देशक में पृथ्वीकायिक जीवों का स्वरूप बताकर उनकी हिंसा नहीं करने का उपदेश फरमाया । साथ ही यह बतलाया गया है कि जो साधु अथवा साध्वी पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते, करवाते अथवा करने वाले का अनुमोदन भी करते हैं वे वास्तव में जैन साधु साध्वी नहीं किन्तु गृहस्थ के समान श्रावक क्रिया करने वाले है।

पृथ्वीकाय का आरंभ जीव क्यों करता है। इसके लिए बतलाया गया है कि जीव अपने इस जीवन को निरोग और चिरंजीवी बनाने के लिए, मान, पूजा, प्रतिष्ठा, प्रशंसा के लिए, जन्म मरण से छूटने के लिए अथवा दुःखों का नाश करने के लिए वह इसका आरम्भ करता है। प्रभु फरमाते हैं यह

पृथ्वीकाय का आरम्भ, आरम्भ करने वाले के लिए बोधि (सम्यक्त्व) नाश का कारण मृत्यु का कारण, नरक का कारण है, क्योंकि पृथ्वीकाय के आरम्भ में मात्र पृथ्वीकाय के जीवों की ही हिंसा नहीं होती प्रत्युत उसके निश्राय में रहे हुए अनेक वनस्पतिकाय, अप्काय यावत् त्रयकाय तक की हिंसा होती है। अतएव प्रभु ने पृथ्वीकाय की हिंसा करने का पुर्ण निषेध किया हैं।

शिष्य प्रश्न करता है कि पृथ्वीकायिका जीव देखता नहीं, सुंघता नहीं, बोलता नहीं, चलता–फिरता नहीं, फिर उसे वेदना किस प्रकार होती है ? उत्तर में प्रभु फरमाते हैं–पुर्व अशुभ कर्म के उदय के कारण कोई पुरूष मृगापुत्र के समान जन्मान्ध, बधिर–बहरा, मूक–गूंगा, कोढ़ी, पंगु ओर हाथ पैरों से रहित हो और उस व्यक्ति को अन्य कोई उसके आदी–व्याधि (अवयवादि) आदि का छेदन करे, मारे पीटे तो यद्यपि वह व्यक्ति बोलता नहीं, चलता नहीं, रोता नहीं परन्तु दुःख का अनुभव करता है, इसी तरह पृथ्वीकायिक जीव को खोदना, छेदन, भेदन करने पर उसे भयंकर दुःख का अनुभव होता है । इसलिए प्रभु ने इसके आरंभ का निशेध किया है ।

तीसरा उद्देशक : इस उद्देशक में प्रभु ने अप्काय–पानी के जीवों का स्वरूप बताकर उसकी हिंसा न करने के उपदेश फरमाया है। जो लोग पानी में जीवों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते प्रभु ने उन्हें 'मृशावादी' कहा है। इतना ही नहीं जो पुरूष अप्काय जीवों के अस्तित्व का अपलाप करता है उसे स्वयं की आत्मा का 'अपलापक' कहा है।

इससे साथ ही अप्काय का आरम्भ जीव क्यों करता है ? इसका फल क्या होता ? इत्यादि सारा वर्णन पृथ्वीकाय के समान जानना चाहिये ।

चौथा उद्देशक : इस उद्देशक में अग्निकाय का वर्णन है। संसार में जितने भी एकेन्द्रिय जीव हैं उन सब में वनस्पतिकाय की अवगाहना सबसे अधिक यानी 1000 योजन झाझेरी है। इसलिए उसे 'दीर्घलोक' कहा है। चूंकि अग्निकाय उस दीर्घकाय को जला डालती इसलिए अग्निकाय को 'दीर्घलोक शस्त्र' कहा है। प्रभु ने इसे समस्त प्राणियों का घातक शस्त्र कहा है। प्रभु ने अग्निकाय के आरंभ करने वाले को समस्त प्राणियों को दण्ड देने

वाला बतलाया है क्योंकि अग्निकाय के आरम्भ में छह ही काय की हिंसा होना बतलाया है। इसके आरम्भ करने के क्या कारण हैं ? वह पृथ्वीकाय के समान समझना चाहिये ।

पांचवा उद्देशक : इस उद्देशक में वनस्पतिकायिक जीवों का वर्णन हैं। इसमें वनस्पतिकाय जीवों की हिंसा के कारण और इससे होने वाले कटु फल आदि सभी का वर्णन है उक्त वर्णन अन्य स्थावरकाय के समान समझना चाहिये, विशेषता इतनी है कि वनस्पतिकायिक जीवों की तुलना मनुष्य से की है। उसके जन्म, बढ़ने, चेतना, आहार, आहार के अभाव में शरीर क्षीण दुर्बल होने आदि बताकर मानव जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया गया है ।

छठे उद्देशक : इस उद्देशक में आठ प्रकार के त्रस प्राणी बता कर उनकी हिंसा न करने का प्रभु ने उपदेश दिया है। आठ प्रकार के जीवों में अण्डों से उत्पन्न होने वाले, पोतज अर्थात् चर्ममय थैली से उत्पन्न होने वाले, जरायुज–जरायु के साथ उत्पन्न होने वाले, रसज–विकृत रस में उत्पन्न होने वाले, संसेइमा–पसीने से उत्पन्न होने वाले, समुच्छिमा–बिना माता पिता के संयोग से उत्पन्न होने वाले, उब्भियया–जमीन फोड़ कर उत्पन्न होने वाले, उववाइया–उपपात–शय्या अथवा नारकी में उत्पन्न होने वाले । प्रभु ने अपने हिताहित का विचार न करने वाले व्यक्ति को मंद अज्ञानी कहा है जो जीव हिंसादि करके बार–बार संसार में जन्म–मरण करता रहता है ।

सातवां उद्देशक : इस उद्देशक में वायुकायिक जीवों की हिंसा करने का निषेध किया गया। कई व्यक्ति वायुकाय को सचित नहीं मानते हैं। किंतु प्रभु ने अपने केवल ज्ञान में जानकर वायुकाय सचित्त बताई है। इसकी हिंसा करने वाले को अन्य पान्च काय की हिंसा के समान अहितकर एवं अबोधि का कारण बतलाया है।

इस प्रकार इस सम्पूर्ण अध्ययन में शट् जीवनिकाय का स्वरूप बताया है अतः उनका समारंभ स्वयं न करे, न करावें एवं न ही करने वाले की अनुमोदना भी करें ।

(2) द्वितीय अध्ययन "लोक विजय है"। इस अध्ययन में 6 उद्देशक है। लोक विजय का अर्थ है कि विश्व पर विजय।

लोक दो प्रकार के होते है प्रथम – चार प्रकार की गतियों में भ्रमण रूपी द्रव्य व द्वितीय–भाव लोक जिसमें राग–द्वेष जैसे भाव लोक जीव द्रव्य लोक में भ्रमण करता है। अर्थात् इसमें इन सब द्रव्य व भाव लोक पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है और वैराग्य की बात कही गई है।

(3) तीसरा अध्ययन : शितोष्णीय है। इसमें 4 उद्देशक है। इस अध्ययन में अणगार के रूप में साधना मार्ग पर चलने का उपदेश दिया गया है। (इसके सरल होने की, उसकी मन, वाणी कपट न हो)

(4) चतुर्थ अध्ययन में 11 सम्यक्त्वय है। इसका अर्थ यह है कि शाश्वत सत्य धर्म में विश्वास आस्था–श्रद्धा व निष्ठा है।

इसमें सत्य धर्म के स्वरूप को समझाया गया है तथा इसमें वर्तमान, भूत व आगामी काल के सभी तीर्थंकरों व अर्हन्तों का वर्णन है। इसमें सभी प्राणियों को अपने देहिक सुखों का त्याग करना व सभी प्रकार के ममत्व का त्याग कर सम्यक्तव तप द्वारा अहिंसा, संवर, निर्झरा करना तथा सभी कषायों को छोड़ने का उपदेश है।

(5) पाँचवा अध्ययन का नाम लोक सार है। इसमें 6 उद्देशक है और इसको आवंति अध्ययन भी कहा है क्योंकि इसमें आदि मध्य और अंत में आवंति शब्द का प्रयोग किया गया है। आवंति का अभिप्रायः आगामी कहा जा सकता है। इसमें समस्त लोक के सारभूत तत्व धर्म, धर्म का सार ज्ञान, ज्ञान का सार संयम व संयम का सार मोक्ष है।

चतुर्थ उद्देशक में मुनि को एकाकी रूप से विचरण नहीं करना चाहिए।

पंचम अध्ययन में बताया गया है कि आचार्य सद्गुणों से ओत–प्रोत हो, मन एवं इन्द्रियों को वश में रखने वाला हो। अपने को तत्वज्ञानी और श्रुत से अपना व परायों का कल्याण करने वाला हो।

(6) छठा अध्ययन का नाम धूत है। धूत का अर्थ है किसी वस्तु पर लगे

मैल को दूर करके उसे स्वच्छ बनाना। इसमें यह उपदेश दिया है कि आत्मा पर लगे मैल को संयम् द्वारा दूर कर आत्मा को स्वच्छ करना। इसमें 5 उद्देशक है।

इसमें आठ प्रकार के जीवों में से तीन गर्भज, सम्मूर्च्छित व ओपपातिक होते है। इसमें जन्म–मरण के रूप में केन्द्रित है, इसको संसार समझना चाहिए।

(7) सातवां अध्ययन सातवें अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

(8) आठवाँ अध्ययन : इस अध्ययन के दो नाम है (1) विमोक्ष (2) विमोह इन दोनों शब्दो में कोई अन्तर नहीं है।

विमोह का अर्थ है कि किसी वस्तु जीव के प्रति अनुराग नहीं रखना और विमोक्ष का अर्थ है कि सबसे पृथक हो जाना।

(9) नवां अध्ययन : उपधान

भौतिकता का आवरण

इसमें अर्थ का बोलबाला संकुचित भावना, सत्ता अधिकार का पर्याय बन गया है इस बात को आज भुजबल, माफिया, तस्करी, हत्या, ब्लात्कार, द्वेष, ईर्ष्या का वातावरण बढ़ता जा रहा है । जब अपनी सजा के सामने ईश्वरीय शक्ति कम लगने लगती है। तब कोई न कोई महापुरूष प्रकट होता है।

द्वितीय अध्ययन

लोक विजय

लोक विजय का प्राचीन नाम लोक विजय। लोक विजय को हम इस प्रकार समझते है :–

संसार का स्वरूप शरीर पदार्थों की अनित्यता आदि के बारे में साधक को आसक्ति का बंधन तोड़ने की प्रेरणा देता है। इसका अभिप्राय यह है कि इस संसार में सभी विषय तथा स्वजन–स्नेह आदि से आसक्त होना है। इसमें त्याग, परिग्रह, आशा–तृष्णा का परित्याग, भोग विरति आदि को निषेध बताया गया है।

विजय का अभिप्राय यह है कि इसमें पराक्रम व पुरूषार्थ का वर्णन किया है। इसमें 6 उद्देशक सम्मिलित है।

प्रथम उद्देशक : 'आसक्ति' इसमें यह माना जाता है कि यह मेरी माता है, पिता है, भाई, बहन, पुत्र, पौत्र आदि रिश्तेदार व द्रव्य, उपकरण, भोजन व वस्त्र आदि का विवेचन है जिसमें ममत्व को दर्शाया है और ममत्व से प्रमाद बढ़ता है। ये ममत्व व प्रमाद नामक भूत उसके सिर पर सवार हो जाता है तब वह अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है और अनुचित उपाय अपनाता है जिसके कई दुष्परिणाम होते हैं।

परम्परा के आधार पर मनुष्य की उम्र 100 वर्ष मानी गई है। लेकिन फिर भी कोई दीर्घ आयु जीते है और कुछ अल्प आयु। मनुष्य की उम्र के आधार पर शैशवकाल में उसका पोषण किया जाता है। प्रत्येक प्राणी का सुख–दुख अपना–अपना है। इस प्रक्रिया से व्याकुलता उत्पन्न होती है। ऐसा मनुष्य परिवार के लिए समस्या बन जाता है। समय के आधार पर वृद्ध भी हो जाता है और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

लेकिन इस क्रिया को वह सोचता है, चिंतन करता है और कोई शरण नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में संयम का शरण लेना ही उपयुक्त है।

द्वितीय उद्देशक : अरति व लोभ का त्याग – जो अरति से निवृत होता है वह बुद्धिमान है, वह बुद्धिमान विषय तृष्णा से क्षणभर में मुक्त हो जाता है।

वीतराग विहित विधि के विपरीत आचरण करने वाले कोई न कोई संयम जीवन में परेशानी होने पर पुनः गृहवासी भी बन जाते है, वे मंदबुद्धि, अज्ञानी, मोह से संलग्न रहते हैं। कुछ व्यक्ति संकल्प करते है कि वे अपरिग्रही होंगे और संयम ग्रहण करते है लेकिन जब इन्द्रिय विषयों का प्रसंग आता है तो उसमें ही फंस जाते हैं और वे साधु वीतराग की आज्ञा के बाहर हो जाते है व बार–बार मोह मे मग्न हो जाते हैं।

ऐसे समय में वे गृहवास के लिए जा सकते है। अतः संयम मार्ग पर चलने वाला साधक अपने आप में आनन्द का अनुभव करता है। जो लोग लोभ के साथ दीक्षा लेते है वे भविष्य में लोभ का त्याग कर कर्मवरण से मुक्त हो जाते हैं।

तीसरा उद्देशक : गौत्रवाद निरसन : मनुष्य कई बार उच्च गौत्र व कई बार नीच गौत्र को प्राप्त होता है। अतः यहां पर कोई नीच व हीन नहीं होता और न ही उच्च व विशेष होता है। यह सोचकर उच्च गौत्र की इच्छा नहीं करनी चाहिए। विवेकशील मनुष्य को उच्च गौत्र होने पर हर्षित नहीं होना चाहिए और न ही नीच गौत्र में होने से दुखी होना चाहिए।

इस सूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा विविध योनियों में भ्रमण करते हुए इस योनि में आने पर उच्च जाति व गौत्र के प्रति अहंकार व हीनता का भाव नहीं रखना चाहिए।

ऐसी कोई जाति, गौत्र, योनि, स्थान व कुल न रहा, जिसमें मनुष्य ने भ्रमण न किया हो। उसको गौत्र, ऊँच–नीच की धारणा को मन से निकालकर आत्मवाद की ओर अग्रसर होना चाहिए।

भगवान महावीर ने बताया है कि जाति मद–गौत्र मद आदि को निरस्त कर स्पष्ट कर दिया इन सब मद में कई बार जा चुका है।

प्रत्येक जीव को सुख प्रिय है। इस पर गहनता से विचार करें तो यह

सीमित है। उसके कर्म के आधार पर उसको फल मिलता है। कोई अन्धा, बहरा, गूंगा, लंगड़ा, कुष्ट, प्रमादी, दुखी, वेदनाओं का अनुभव करता है।

जो पुरूष शाश्वत सुखी है वो मोक्ष की ओर गतिशील होते है।

चतुर्थ उद्देशक : काल भोग जन्य पीड़ा : जब एक समय आता है तब मनुष्य के शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जब स्वास्थ्य प्रतिकूल होता है तो स्वजन उसका तिरस्कार व निंदा करने लगते है और बाद में वह उन सब की निंदा करने लग जाता है।

प्रत्येक दुख–सुख अपना अपना है। यह जानकर वह इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है और जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं करते है तो वे बार–बार भोग विषय पर सोचते रहते है। जो मनुष्य मोह में लिप्त है तो उसे सुख नहीं मिल सकता और मिलता भी है तो क्षणिक। मनुष्य की भोग की इच्छा व काम की इच्छा का परिणाम कटु होता है।

जो मनुष्य स्त्री से पराजित हो जाता है और वह कहता है कि स्त्री भोग वस्तु है। यह धारणा दुख का कारण है वह मोह, मृत्यु, नरक व त्रियंच गति की ओर जाता है। साधु को क्रोध नहीं करना चाहिए। वह मनुष्य प्रशंसनीय होता है, जो कभी गर्वित न हो और संयम से रहता हो।

पंचम उद्देशक : शुद्ध आहार– मनुष्य (असंयमी पुरूष) अपने व अपने परिवार के सदस्यों के लिए राजा, नौकर आदि के लिए प्रातः व सायंकालीन भोजन के लिए सभी पदार्थ संग्रह करते है।

जबकि संयमी पुरूष अपने (साधु, अणगार) उचित समय पर प्रत्येक क्रिया करता है तथा भिक्षा के लिए उचित समय व शिक्षा के लिए भी समुचित समय पर कार्य करता है। इसके साथ–साथ सदोष आहार को स्वयं ग्रहण नहीं करे और न ही दूसरों से ग्रहण करावे तथा ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करें। श्रमण (साधु) किसी विषय में प्रतिज्ञाबद्ध–एकांत आग्रही न हो, विधि निषेध का विचार अनेकान्तवाद की दृष्टि से देखा जाना चाहिए।

भगवान ने एकान्त रूप से न तो किसी कर्तव्य का विधान किया है और न निषेध है लेकिन मैथून भाव से स्त्री संग का एकान्त निषेध है।

इसमें संयमी वस्त्र, पात्र, कम्बल, कटासन, चटाई जो गृहस्थ उपयोग करता है उसकी याचना करें।

इच्छित आहार प्राप्त होने पर आगम के अनुसार उसकी उचित मात्रा का ध्यान रखना चाहिए। साधु जीवन प्राप्त करने के बाद ममत्व से दूर रहना चाहिए।

श्रमण के दो कर्तव्य है (1) जिनकल्पी (2) स्थविर कल्पी

(1) जिनकल्पी : श्रमण संघ से पृथक से स्वतंत्र एकाकी रहकर साधना करते थे।

(2) स्थविर कल्पी : श्रमणसंघीय जीवन यापन करते है। इसमें श्रमण शरीर के मोह के वशीभूत व्याधि आदि के निवारण के लिए सदोष चिकित्सा का प्रयोग करते है चाहे उसमें जीव हिंसा होती है। जबकि जिनकल्पी ऐसी चिकित्सा स्वीकार नही करते।

छठा उद्देशक : सर्व अव्रत विरति – सम्यक ज्ञान, दर्शन, चरित्र में विश्वास करने वाला रमण करने वाला अणगार स्वयं पाप का कर्म न करें न अन्यों से करवाएं और न ही अनुमोदन करें।

वह साधक प्रमाद या अज्ञानवश किसी एक जीव चाहे वह वनस्पतिकाय व वायुकाय से कार्य प्रारम्भ हो। साधक एक आस्रव द्वार खोलता है तो कई आस्रव द्वार खुल जाते है और साधना रत पुरूष सभी विषय भोगों का त्याग कर शुद्ध संयम का पालन करता है तो पुनः संसार में नहीं आता।

और वह जिसने मन से (आंतरिक व बाह्यय) दोनों प्रकार के परिग्रह व ममत्व त्याग कर दिया है वह सम्यक रूप से मोक्ष को जाने वाला है।

यहां तीर्थंकर भगवान उपदेश देते हुए कहते है कि समभाव रखने वाला पुरूष नीरस एवं सादा भोजन करता हुआ शुद्ध, संयम का पालन करता है। जिससे वह अष्ट कर्मों को क्षय कर मोक्ष को प्राप्त करता है।

तीर्थंकर भगवान ने यह भी उपदेश दिया कि साधु को उपदेश देने की विधि का जानकार होने पर ही उपदेश देना चाहिए।

तृतीय अध्ययन

''शीतोष्णीय''

सुप्त - जाग्रत

इस अध्ययन में यह बतलाया है कि साधु को शीत व उष्ण, अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थिति में समभाव पूर्वक रहना चाहिए इसलिए इसको शीतोष्णीय अध्ययन कहा गया है।

इसके चार उद्देशक है :

अगुणी अर्थात् अज्ञानी पुरूष हमेशा सोए हुए रहते है लेकिन ज्ञानी हमेशा जागते रहते है।

सोना (शयन) दो प्रकार का होता है।

(1) द्रव्य शयन (2) भाव शयन

द्रव्य शयन : इसमें सोया हुआ जो निद्रा में है वह द्रव्य शयन कहलाता है।

भाव शयन : अज्ञान मय शयन भाव शयन कहलाता है।

भाव शयन सभी दुखों का कारण है। जो प्राणी अज्ञानी है वे द्रव्य से जागते हुए भी भाव से सोए हुए है क्योंकि वे ज्ञान से रहित है तथा जो ज्ञानी है वे मोक्ष मार्ग में प्रवृत होने वाले मुनि है जो द्रव्य से सोते हुए भाव से हमेशा जागते हैं।

छह काय के जीवों के परिपूर्ण इस लोक में अज्ञान ही दुख का कारण है।

जो आत्मवान ज्ञानवान सभी गुण वाला मुनि है वह संसार के सभी राग, द्वेष को जानकर छोड़ देता है वही वास्तव में सर्वज्ञ है।

शीत, उष्ण, प्रतिकूल, अनुकूल परिस्थिति में सभी कष्ट सहन करने

वाला – असंयम में अरति व संयम में रति रहने वाला वही सच्चा निर्ग्रन्थ है। ऐसा निर्ग्रन्थ जिसनें आंतरिक व बाह्य दोनों ग्रन्थियों को तोड़ दिया, ऐसा साधु न तो सांसरिक सुखों की इच्छा रखता है और न ही दुखों से घबराता है।

दूसरा उद्देशक : बंध मोक्ष परिज्ञान असंयत की व्याकुल

महावीर भगवान गौतम स्वामी को कहते है कि जन्म–मरण दुखों को देखा। जिस प्रकार तुम को सुख अच्छे लगते है। उसी प्रकार सभी प्राणियों को सुख अच्छा लगता है। इसलिए ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए जिससे दूसरे प्राणियों को दुख उत्पन्न हो इस प्रकार सम्यग्दर्शी पुरूष जन्म–मरण के दुखों से मुक्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त भोग विलास में संलग्न रहते हुए प्राणी हिंसा व कई पाप करते है और बार–बार गर्भ में उत्पन्न होते हैं तथा शारीरिक व मानसिक दुखों से दुखी होते है। अतः बुद्धिमान व्यक्ति को भोग विलास में डूबे नहीं रहना चाहिए, इन भोग विलास से दूर रहने वाले पुरूष सुखपूर्वक मोक्ष में चले जाते है।

परमदर्शी पुरूष अपनी इन्द्रियों को वश में रखता हुआ संयम का पालन करता है। सभी गुणों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होता है।

संयम का पालन करने वाला पुरूष सभी कर्मो का क्षय कर देता है। प्राचीनकाल में चक्रवर्ती राजाओं ने परिग्रह का उपार्जन किया लेकिन फिर भी उनकी तृष्णा का अंत नहीं हुआ। अंत में संयम को ग्रहण कर उसका विधिवत् पालन करते हुए मोक्ष को प्राप्त किया।

तीसरा उद्देशक सत्य समता, अभिंग विवेक

मनुष्य, भव, उच्चकुल धर्मश्रवण आदि दुर्लभ अंगों को प्राप्त करके विद्वान, विवेकी पुरूष को आत्म कल्याण की ओर बढ़ते हुए किसी प्रकार का गर्व नहीं करना चाहिए और अपनी आत्मा के समान ही अन्य बाह्य जगत के प्राणियों की आत्मा को नुकसान न पहुँचाए। वे भी मेरी तरह (साधक मुनि)

ही सुख को प्राप्त करे। मुनि को सबके प्रति समता के भाव रखना चाहिए, ज्ञानी मुनि परम सत्य को व संयम के प्रति कभी भी गर्व न करे। अतः संयमी मुनि को आत्मा के विकास, आत्म समता, आत्म शुद्धि, आत्म जागृति, आत्म रक्षा, पराक्रम विषयों से विरक्ति व राग द्वेष व पाप कार्य से दूर रहकर, आध्यात्मिकता की ओर बढ़ना चाहिए।

चतुर्थ उद्देशक

सम्यकत्व

सम्यक् चार प्रकार के है :

(1) सम्यक दर्शन
(2) सम्यक चरित्र
(2) सम्यक ज्ञान
(4) सम्यक तप

चारों सम्यकत्व मोक्ष के अंग है।

पुरुषार्थ

1. जीवों को मोक्ष मार्ग में लगाना ही दया है।
2. ये दया के पात्र बनने का नहीं, पात्रों पर दया करने का मार्ग है।
3. राग–द्वेष का नाम क्रुर भाव है और वीतरागता का नाम दया है।
4. जो पात्रों पर दया नहीं करते वे स्वयं दया के पात्र बन सकते हैं।
5. सरलता, समृद्धिता की जनक है।
6. बड़े व्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी लघुता, सरलता ।
7. ज्ञानी अर्थात वितरागी और वितरागी अर्थात ज्ञानी ।

चतुर्थ अध्ययन

चौथें अध्ययन का नाम सम्यक्त्व अध्ययन है। सम्यक्त्व का अर्थ हैं शाश्वत सत्य धर्म में विश्वास, आस्था–श्रद्धा–निष्ठा। इस चौथे सम्यक्त्व नामक अध्ययन में 4 उद्देशक हैं।

इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र में शाश्वत सत्य धर्म के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए कहा गया है–अतीत, वर्तमान और आगामी काल के सभी अर्हन्तों–तीर्थंकरो का यही कथन हैं कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व की न तो हिंसा करनी चाहिये न करवानी ही चाहिए और न उनको किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुंचानी चाहिए।

अहिंसा रूप यही धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है। सम्पूर्ण लोक के समस्त जीवों के दुःखो को जानने वाले महापुरूषो ने इसका वर्णन किया है।

यह अहिंसामूलक धर्म उन सब लोगों को सुनाना चाहिए, जो इसको सुनने के लिये उद्यत अथवा अनुद्यत उपस्थित अथवा अनुपस्थित, मन, वचन एवं कार्य रूप दण्ड से उपरत अथवा अनुपरत, सोपधिक अथवा निरुपधिक और संयोगरत अथवा संयोग से नुपरत हैं, क्योंकि यही सच्चा धर्म है, यही मोक्षप्रदायी हैं।

अथाह सागर तुल्य जैन दर्शन को इस एक ही सूत्र रुप गागर में समाविष्ट कर दिया गया है। सच्ची मानवता का प्रतीक यह सूत्र जैन धर्म को विश्व धर्म के गौरव गरिमापूर्ण पद पर प्रतिष्ठापित करने के लिये पर्याप्त है।

द्वितीय उद्देशक में आस्रव एवं संवरद्वारो का विवेचन करते हुए बताया गया है कि आसव एवं संवर एकान्तः स्थान और क्रिया पर नहीं अपितु मूलतः साधक की क्रमशः शुभाशुभ तथा विशुद्ध भावना पर निर्भर करते हैं अतः साधक को राग द्वेष से रहित विशुद्ध भावना रखने के लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

तृतीय उद्देश्यक में साधक को यह उपदेश दिया गया है कि वह भाव–विशुद्धि द्वारा नये कर्मो के आगमन को रोकने के साथ–साथ पूर्वसंचित कर्मो का नाश करने के लिये यथाशक्य तप–साधना में निरत रहे।

चौथे उद्देश्यक में साधना मार्ग को कठोर और वीरों का मार्ग बताते हुए साधक को उपदेश दिया गया है कि वह समस्त ऐच्छिक सुखों और अपने शरीर के प्रति भी ममत्व का त्याग कर सम्यक्तव द्वारा अहिंसा, संवर और निर्जरा पर प्राप्त हुई। अपनी श्रद्धा को सदा अपने आचरण में उतारने का प्रयास करता रहे। चारों उद्देशकों का यही विषयक्रम निर्युक्ति एवं वृत्ति में निर्दिष्ठ हैं और यही क्रम आचारांग में आज भी विद्यमान है।

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद 993 वर्ष में चौथे कलिकाचार्य से पंचमी के स्थान पर चतुर्थी की संवत्सरी प्रारम्भ की ।

पंचम अध्ययन

अध्ययन - लोकसार

इसके छः उद्देशक है।

प्रथम उद्देशक

काम, कारण संसार स्वरूप परिज्ञान कषाय – पद

इस संसार में अज्ञानी प्राणी अपने किसी प्रयोजन या निष्प्रयोजन से कोई हिंसा करता है तो वह छः काय की विभिन्न योनियों में भ्रमण करता हुआ अपने कर्मों का फल भोगता है जो साधक इससे हट गया है तो वह संसार के सार को जान गयाा है और सच्चे सम्यकत्व को प्राप्त कर लिया है।

मोक्ष परमपद कहलाता है। उसमें कोई शक नहीं है। लेकिन यह अवश्य है कि उपाय शंकित हो सकते हैं।

उद्देशक – संसार स्वरूप कषाय, पाप–पुण्य की धारणा को समझने वाला साधक मैथुन का सेवन नहीं करता, भोग विलास से दूर रहता है।

द्वितीय उद्देशक

अप्रमाद का पद परिग्रह त्याग

तीर्थंकर भगवान ने अप्रमाद का मार्ग बताया है। साधक मोक्ष प्राप्त करने की साधना के लिए प्रमाद न करे। प्रमाद के अतिरिक्त परिग्रह त्याग पर प्रेरणा प्राप्त होती है।

तृतीय उद्देशक

मुनिधर्म की प्रेरणा सम्यकत्व मुनित्व

कोई भी मनुष्य संसार के स्वरूप को समझकर दीक्षा ग्रहण करता है और शुद्ध संयम का पालन करता है वे वास्तव में ज्ञानी साधु कहलाते है। जैसे धन्ना अणगार, गौतमकुमार, गजसुकुमाल आदि 90 महापुरूष व

महासतिया (अंतगड़ सूत्र)। इसके अतिरिक्त कोई पुरूष संयम स्वीकार कर संयम का पालन नहीं करके रसातल की ओर चला जाता है जैसे कण्डरीक मुनि। इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान की आज्ञा की पालना करते पुरूष सदाचार का पालन करे, प्रमाद न करे, शुद्ध संयम का पालन करे, कषायों से दूर रहे। उसकी आत्मा का कल्याण हो सकता है।

चतुर्थ उद्देशक

परिचर्या, कर्म का बंध व मुक्ति, ब्रह्मचर्य

जो साधु नूतन है, शास्त्र का ज्ञान अल्प है। आचार संहिता का ज्ञान भी कम है ऐसी अवस्था में यदि गच्छ (समुदाय) से निकाल दे तो उसको अकेले ही गांव से गांव विहार कर जाना होता है। मार्ग के अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों में साधु संयम भ्रष्ट हो जाए, अतः एकल साधु, का विहार निषेध है।

यदि साधु गुरू की आज्ञा में रहकर विहार करता है तथा विधि विधान का पालन करता है फिर भी किसी परिस्थिति से साधु द्वारा हिंसा हो जाती है, तो भी कर्मबंध तो होता है लेकिन परिणाम में अंतर होता है। ऐसे कर्मबंध तीव्र नहीं होता, प्रायश्चित द्वारा उसकी शुद्धि हो जाती है।

कर्मों की वास्तविकता को देखने वाला तथा संसार की यर्थाथता को जानने वाला और छः काय जीवों का रक्षक मुनि शीघ्र ही कर्मों का अंत कर देता है। ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

यदि उसको एक स्त्री का परिषह आवे तब भी वह संयम का पालन करे और किसी प्रकार से विचलित न हो और इससे भी शांत न हो तो आतापना लेकर शरीर को कष्ट देकर इन्द्रियों को शांत करे, इससे भी शांति न हो तो गांव छोड़कर अन्यत्र चले जाना चाहिए।

पाँचवा उद्देशक

(आचार्य महिमा सत्य में श्रद्धा व दृढ़ता, सम्यक व असम्यक विवेक, अहिंसा की व्यापक दृष्टि, आत्मा ही विधाता)

आचार्य का अर्थ यहां पर तालाब से बताया गया है :

(1) एक तालाब जिससे पानी निकलता है और बाहर से आता है।

(2) जिससे पानी निकलता है लेकिन आता नहीं है।

(3) जिससे पानी निकलता नहीं है लेकिन बाहर से आता है।

(4) जिससे न तो पानी निकलता है और न बाहर से आता है।

जिस प्रकार तालाब उक्त चार प्रकार के होते है। उसी प्रकार आचार्य भी चार प्रकार के होते है।

(1) पहले में आचार्य अपने ज्ञान का आदान–प्रदान करते है। जैसे गणधर ज्ञान प्राप्त करते हैं और ज्ञान का उपदेश भी देते हैं।

(2) दूसरे में तीर्थंकर भगवान को कहा जा सकता है जो ज्ञान को उपदेश के रूप में निकालते है लेकिन आता नहीं है।

(3) तीसरे में विशेष व्रतधारी है जो ज्ञान सीखते ही रहते हैं अर्थात् ज्ञान बाहर से प्राप्त करते है निकलता नहीं।

(4) चौथे में प्रत्येक बुद्ध व स्वयं बुद्ध आते है। इस प्रकार अपने आप बुद्ध होने से न ज्ञान प्राप्त होता है और न ही निकलता है।

इसके अतिरिक्त संयम रूपी तप में संदेह रखने पर समाधि को प्राप्त नहीं हो सकता और कई पुरूष गृहस्थी में रहकर आचार्य की आज्ञा (उपदेश) मानते है और कई पुरूष गृहस्थी में नहीं रहकर भी आचार्य की आज्ञा (उपदेश) मानते है तथा सम्यकत्व को स्वीकार किए हुए पुरूष के साथ रहकर भी आचार्य के उपदेश को भली प्रकार नहीं समझता है तो उसको खेद अवश्य होता है ऐसे समय में आचार्य को सांत्वना देना चाहिए।

इसके साथ–साथ तीर्थंकर भगवान ने धर्म, अधर्म, आकाश, पदार्थ का कथन किया है वे सब सत्य है, कोई शंका व संदेह नहीं है क्योंकि रागद्वेष कषायों पर विजय पाते हुए तीर्थंकर भगवान सर्वज्ञ होते है। वे संशय रहित होते है।

तीर्थंकर भगवान ने जो कुछ कहा, वह सत्य है। शंका रहित है। इस प्रकार की मान्यता रखकर जो पुरूष दीक्षा अंगीकार करता है।

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उक्त मान्यता अधिक हो सकती है, कम हो सकती, पहले जैसी रह सकती है और नष्ट भी हो सकती है। इसके परिणाम भिन्न–भिन्न हें यह उसके सम्यक श्रद्धा पर निर्भर होता है।

छठा उद्देशक

(आशा निर्देश, आसक्ति, मुक्तात्मा)

अनेक अज्ञानी पुरूष तीर्थंकर भगवान की आज्ञा की अवहेलना करके कुमार्ग की ओर प्रवृत हो जाते है और कुछ पुरूष कुमार्ग की ओर प्रवृत नहीं होते लेकिन आलसी होने के कारण तीर्थंकर भगवान का उपदेश जानकर भी सुमार्ग की ओर प्रवृत नहीं होते। अतः तीर्थंकर भगवान की आज्ञा की पालना करना चाहिए।

जो पुरूष उपसर्गों व परिग्रह द्वारा पराजित नहीं होता तथा तटस्थ रहने में समर्थ होता है। क्योंकि वह जानता है कि इस संसार में माता–पिता, स्त्री, पुत्र, पुत्री व अन्य सहयोगी कोई दुर्गति में जाने वाले जीव की रक्षानहीं कर सकते। प्रत्येक बुद्धिमान पुरूष अन्य पुरूषों के विचारों को जानकर उसका त्याग कर दे और तीर्थंकर भगवान के मार्ग का अनुसरण करें।

संयम स्वीकार करके अपनी इन्द्रियों को वश में करते हुए अपने कर्म रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें।

सभी दिशाओं में कर्मों यानी आस्रव द्वार है जो उनमें आसक्त होता है उस प्राणी को कर्म बन्ध होता है। और विवेकी पुरूष आस्रव में आसक्त न हो।

इसमें यह भी स्पष्ट किया है कि वर्ष में दो बार अश्विन व चैत्र माह में नवपद ओली आती है और इस समय नव दिन आयम्बिल किये जाते है। इसमें अरिहंत का रंग सफेद व सिद्ध भगवान का रंग लाल, आचार्य का रंग पीला, उपाध्याय का रंग हरा व साधु का रंग काला।

यहां पर स्पष्ट करना है कि आगम में रंग का कोई विवरण नहीं है। यहां पर अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु के पांच पद है इसके अतिरिक्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप कुल नव पद होते है लेकिन अंतिम चार इनके गुण है, दोनों एक दूसरे के पूरक है। अलग नहीं हो सकते। भगवान महावीर गौतम स्वामी को बताते है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञानी व ज्ञान दोनों आत्मा है और ज्ञान ज्ञानी का प्रकाश है। ज्ञान की क्रिया से पदार्थों को जानकारी होती है।

अतः जो ज्ञाता है वह आत्मा ही है जो तू है वहीं ज्ञाता है तेरा ज्ञान तुझ से भिन्न नहीं है।

अहो जिन मंदिर, जिन प्रतिमा, जिनागम एवं साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका स्वरूप सात क्षेत्रों में बोया हुआ धान अनंत अक्षत मोक्षफल को देने वाला बनता है।

छठा अध्ययन

इस अध्ययन में पाँच उद्देशक है।

प्रथम उद्देशक

प्रथम उद्देशक में कर्मों का क्षय करने का उपदेश है इसलिए इसका नाम ''धूत'' है। तीर्थंकर भगवान श्रुत केवली या सामान्य केवली को उपदेश देते है। यद्यपि ये उपदेश समस्त जीवों के लिए होते है लेकिन फिर वे मनुष्य जो धर्म के प्रति रूचि रखते है और धर्म–आचरण के लिए तत्पर रहते है। हाँ यह भी सही है जो पुरूष धर्म–आचरण करने में प्रमाद करते है उनकी बुद्धि आत्म कल्याण करने की नहीं होती है। इस कथन को समझने के लिए शास्त्रकारों ने कई उदाहरण देते हुए समझाकर स्पष्ट किया है।

यहाँ पर एक उदाहरण देकर स्पष्ट करना है कि एक वृक्ष सर्दी, गर्मी, बरसात व उसकी कंपाती हुई शाखाएं छिद्र के रूप में होती है। कई उपद्रवों को सहन करता हुआ अपने कर्म के अधीन खड़ा रहता है इसी प्रकार कर्मशील जीव धर्म–आचरण का ज्ञान जानते हुए भी शारीरिक व मानसिक दुखों से दुखी होते है फिर भी गृहवास (गृहस्थी) को नहीं छोड़ते है। अपने कर्मों के फल को भोगने के लिए कई प्रकार के रोगों से पीड़ित रहते है इसलिए जन्म–मरण के दुखों को विचार कर ऐसा कार्य करना चाहिए। जिससे दोनों से ग्रसित न होना पड़े।

यह शरीर नश्वर है फिर भी अज्ञानी जीव उसे सुखी बनाने के लिए सभी प्रकार के पाप कर्म करता है।

कई रोगों को आमन्त्रण देता है, चिकित्सा कराते है लेकिन फिर भी वे नहीं जानते है कि पूर्व भव में किए गए कर्म ही कारण है। उनकी निर्झरा करने का उपाय करना चाहिए।

अतः किसी प्राणी की हिंसा या नुकसान नहीं करना चाहिए।

श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्यों को धूतवाद का अर्थ बतलाते है कि आठ प्रकार के कर्मों की निर्झरा करना धूत कहलाता है।

संस्कार के स्वरूप को जानते हुए भी पुरूष दीक्षा ग्रहण करने को तैयार हो तो उसके माता पिता मोहवश उसको आज्ञा नहीं देते है लेकिन विवेकी पुरूष सब विचार को त्याग कर संयम स्वीकार कर आत्म कल्याण की ओर अग्रसर होता है।

द्वितीय उद्देशक

शास्त्रों में कहा गया है कि मनुष्य जन्म पाना दुर्लभ है और चारित्र धर्म धारण करना अधिक कठिन है। चारित्र धर्म स्वीकार करने के बाद सभी दुखों, परिग्रहों को सहन करना और भी कठिन है।, यदि कोई पुरूष सहन करते है, कोई पुरूष सहन नहीं करने के कारण संयम को छोड़ गृहस्थ बन जाते है और भोग विलास में प्रवृत्त हो जाते है और अंत में मरण को प्राप्त होते है अतः संयम् स्वीकार कर सभी त्याग करना चाहिए तथा मोक्ष–गामी पुरूष को सभी प्रकार के मोह को त्याग कर अपने कर्मों की निर्झरा करते हुए, पुण्य बंध करना चाहिए। तीर्थंकर भगवान की आज्ञा की पालन करते हुए व संयम का पालन करते हुए सभी परिग्रह, कष्ट, को सहन करते हुए शुद्ध आचरण, संयम का पालन करना चाहिए।

तृतीय उद्देशक

धर्म सम्बन्धी उपकरण के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ का त्याग करना शुद्ध संयम है। मुनि संसार के स्वरूप को जान लेता है किसी प्रकार का ममत्व नहीं रखता तपस्या में लीन रहता है। शरीर का रक्त भी कम हो जाता है। रागद्वेष, कषायों को नष्ट कर देता है ऐसे मुनि ही संसार को पार कर सकते है।

कभी कभी यह भी हो सकता है कि लम्बे समय तक शुद्ध संयम का पालन करता है। फिर भी, कुछ पुरूष को संयम से अरति (मोह) समाप्त हो जाता है तो कर्मों का फल ही कहा जा सकता है क्योंकि मोह की शक्ति प्रबल हो जाती है। आचार्यों द्वारा शिक्षा प्राप्त कर सभी प्रकार से धर्म आचार का पालन कर संयम का पालन कर संसार को पार कर सकता है।

चतुर्थ उद्देशक

गौरव त्यागी

आचार्य अपने शिष्यों को शास्त्रों का ज्ञान देकर नियमों का पालन करने का उपदेश देते है इससे शिष्य ज्ञान से निपुण हो जाते है फिर भी कुछ एक शिष्य मोहवश अभिमानी बन जाते हैं और दूसरों का असम्मान करते हैं, निंदा करते हैं। कुछ एक तीर्थंकर भगवान की अवहेलना कर शिथिलाचारी बन जाते हैं और उन्हें शिक्षा देने पर भी शिक्षक का अपमान कर देते है उनको आत्म शांति नहीं मिल सकती।

जो मनुष्य शीलसम्पन्न है, कषायों से शांत है। नियमानुसार संयम् का पालन करते है, ऐसे महात्माओं को अशील कहना मुर्खता का घोतक है।

कोई पुरूष कर्म के उदय से संयम् का पूर्णतया पालन नहीं करते है फिर भी उनके विचार शुद्ध है। ऐसे पुरूषों के आचार में दोष होने पर भी ज्ञान में कोई दोष नहीं है। अतः ज्ञान से भ्रष्ट न होने के कारण दर्शन को दूषित नहीं करते। जो ज्ञान से भ्रष्ट है वह दर्शन का भी नाश करने वाला होता है।

कुछ एक पुरूष संयम को स्वीकार करने के बाद भी मोहवश भोगों में लिप्त होकर असंयम जीवन व्यतीत करते है। ऐसे मनुष्य का संयम स्वीकार करना भी व्यर्थ होता है और मरणोपरान्त वह इस चक्र से बच नहीं सकता। कुछ एक पुरूष महात्माओं की निंदा करते है और उन पर झूठे दोष लगाते है। लेकिन बुद्धिमान मुनि चारित्र का पालन करें।

पंचम उद्देशक

(वस्त्रधारी श्रमण का समाचार)

जो साधु वस्त्र व एक पात्र रखने की संलेखना कर लेता है तो इसके मन को अन्य कोई विकल्प सोचना ही नहीं है। परिस्थितिवश देवकृत कई उपसर्ग आते है तो अपने कर्म फलों को जानकर सहन कर लेता है और

संसार के जीवों पर दया कर उनके कल्याणार्थ अहिंसा, विरति, मार्दव, आदि उपदेश देता है। ऐसा साधु स्व कल्याण कर सकता है।

साधु सम्यग्य् दर्शन की किसी प्रकार से आशातना न करता हुआ धर्म–आचरण करते हुए इच्छित व विवेकी पुरूषों को धर्म उपदेश देवे और प्राणीमात्र को कोई कष्ट न हो। शरीर का नाश अथवा चार घाती कर्मों का विनाश ज्ञानियों के लिए युद्ध भूमि माना गया है।

शूरवीर पुरूष युद्धभूमि में शत्रुदल के हथियारों को देख घबरा जाता है और मरण समीप होने पर भयभीत हो जाता है। लेकिन जो धैर्यवान पुरूष मरण काल समीप होने पर भयभीत नहीं हो तो ऐसा ही साधु मृत्यु को प्राप्त होने पर भी अच्छी गति प्राप्त करता है। मृत्यु वास्तव में संग्राम ही है। भोग विलास या मृत्यु के भय से पराजित होने वाला साधक, अपनी साधना से गिर जाता है, पथ भ्रष्ट हो जाता है, लेकिन भयभीत न होने वाला धैर्यवान साधक साधना के शिखर पहुँच जाता है।

अरिहंत के चरण कमलों की सेवा
सद्गुरू के चरणों की पर्युपासना, स्वाध्याय एवं धर्मवाद
में श्रेष्ठता प्रभु पुण्य के योग से प्राप्त होती है।

सातवाँ अध्ययन

जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

शीलाचार्य ने आचारांग सूत्र की टीका की है।

यह टीका वि. संवत् 935 वैशाख शुक्ला 9 को समाप्त की।

छठे अध्ययन में टीका के अंत में लिखा है कि वि.सं. 933 के पहले ही महापरिज्ञा का है विलुप्त हो गया।

आठवाँ अध्ययन

इस अध्ययन के दो नाम है (1) विमोक्ष (2) विमोह इन दोनों शब्दो में कोई अन्तर नहीं है।

विमोह का अर्थ है कि किसी वस्तु जीव के प्रति अनुराग नहीं रखना और विमोक्ष का अर्थ है कि सबसे पृथक हो जाना।

इसमें 7 उद्देशक है।

प्रथम उद्देशक :

इसमें अस्तित्व का बोध होता है। इसमें श्रमणों को यह उपदेश दिया है कि अपने से भिन्न आचार वाले भिन्न धर्म वाले साधुओं के साथ खान–पान वस्त्र, पात्र कम्बल आदि का आदान–प्रदान नहीं करना चाहिए।

द्वितीय उद्देशक :

इसमें साधु को उपदेश दिया है अकल्पित वस्तु को किसी भी परिस्थिति में गृहण नहीं करना चाहिए। इसमें पृथ्वीकायिक प्रत्येक प्राणी पृथक–पृथक शरीर में आश्रित रहते है। कुछ साधु होते है जो गृह त्यागी भी कहलाते है लेकिन वे भी विभिन्न शस्त्रों से हिंसा क्रिया में संलग्न होते हुए पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते है। इस विषय में भगवान महावीर ने विवेक का उपदेश दिया।

तृतीय उद्देशक

इसमें अणगार के लिए हिंसा का निषेध है साधु को उपदेश दिया है कि यदि किसी साधु के कम्पन को देखकर किसी गृहस्थ को शंका हो जाए तो साधु उस शंका का समुचित समाधान करे।

इस अणगार के आचरण के बारे में वर्णन है ऐसा अणगार जो सरल आचरण वाला हो, मोक्ष मार्ग के मार्ग का एक लक्ष्य को लेकर चलता हो तथा उसकी वाणी व मन कपट रहित हो तथा उसकी साधना का लक्ष्य भी भौतिक ऐश्वर्य व यश प्राप्ति न होकर आत्मा को निर्मल करना हो, जो अपनी गोचरी, जल आदि को संचित कर प्रयोग करता है।

चौथे उद्देशक

इसमें एक साधु (साधक) को उपदेश दिया है कि विषम परिस्थिति में जब संयम की रक्षा न कर सके तो मृत्यु को वरण करना चाहिए।

इसमें अग्निकाय की सजीवता का वर्णन है तथा अग्निकाय जीव हिंसा का निषेध माना है। अतः इसमें साधु स्वयं अग्निकाय के अस्तित्व व सजीवता का निषेध न करें और न ही अपनी आत्मा के अस्तित्व का निषेध करे।

पाँचवा उद्देशक :

इसमें यह बतलाया कि दो वस्त्रधारी व एक पात्रधारी अर्थात् साधु स्वभाव के कारण परिग्रहों को सहन करें और विभिन्न अभिग्रह धारी साधु – भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म को भली भाँति जानता हुआ अपने अभिग्रह धर्मरूप का पालन करें।

इस उद्देशक में अणगार के लक्षण को बतलाते हुए उपदेश दिया है कि अहिंसा के जीवन में साकार के लिए अनेक मार्ग होते है, जिसमें बताया है कि साधु को संयम स्वीकार करने के बाद वह किसी प्रकार की हिंसा नहीं करेगा। वह संयम में स्थिर होकर मनन करे कि प्रत्येक जीव अभयदान चाहता है इसलिए किसी की हिंसा न करें। इस उद्देशक में वनस्पतिकाय की हिंसा का निषेध किया गया है सभी वैज्ञानिकों ने वनस्पति को जीव माना है। सन्तानोत्पत्ति होती है।

छठा उद्देशक :

इसमें संसार के स्वरूप का वर्णन किया है इसमें साधु को उपदेश दिया गया कि यदि उसने एक वस्त्र व एक पात्र रखने का अभिग्रह किया है तो दूसरे की इच्छा न करें। इसमें भी संसार स्वरूप को बताया है जिसमें त्रसकाय हिंसा का निषेध है, त्रस जीव को कहते हैं।

इसमें आठ प्रकार के जीव माने जाते हैं जिसमें प्रथम तीन अंड (गर्भ) के है और चौथे से सातवें तक समुर्च्छिम (बाहरी वातावरण) के संयोग से होते है जैसे : मच्छर, मक्खी, चींटी है तथा आठवें में देवता शय्या में, नारकी कुम्भी से उत्पन्न होते है, वे ओपपात्तिक देव कहलाते है। इसमें जीव जन्म–मरण चलते रहते है।

हम लोग केवल जीव हिंसा को ही मानते है लेकिन दही, छाछ, पसीने आदि से उत्पन्न होने वाले जीव–ये सब जीव त्रस समूह में होते है, उनकी हिंसा न हो।

सप्तम उद्देशक :

इसको महापरिज्ञा कहा गया है। इसमें वायुकायिक जीव हिंसा का वर्णन है। साधु हिंसा में आतंक देखता है और उसे वह अहित मानता है।

जो अध्यात्म को जानता है तो वह संसार को जानता है। वह स्वयं अपने से अन्य के साथ तुलना करना, अन्वेषण करना, चिंतन कर शांति को प्राप्त करता है। शांति तब प्राप्त होती है जब सभी कषाय शांत हो जाता है। मुनि वे है कि वे जीव हिंसा करके जीना नहीं चाहते। अहिंसा का पालन ज्ञान व करूणापूर्वक होना चाहिए।

वह अहिंसा साधक हिंसा को अच्छी तरह समझता हुआ संयम में स्थिर हो जाता है।

वह समझता है कि हिंसा एक ग्रंथि है, मोह है, मृत्यु है, नरक है फिर भी मनुष्य हिंसा में आसक्त होता है, वह विविध प्रकार के शस्त्रों से वायुकाय के जीवों की हिंसा करता है उसी प्रकार उड़ने वाले पक्षी वायु से प्रतिपादित होकर नीचे गिर जाते है, वह भी हिंसा है।

सूत्र में वायुकाय जीवों की हिंसा निषेध है।